Chapter-2

द्वितीय अध्याय

शास्त्रीय व उपशास्त्रीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में माण्ड व उसकी सौन्दर्यात्मकता।

सौन्दर्य : -

सौन्दर्य शास्त्र जिसको हम अग्रंजी में Aesthtics कहतें है, जिसका अर्थ "इन्द्रिय सुख की चेतना" है। साधारण भाषा में हमें जो आकर्षित करता है, अपनी ओर हमारा ध्यान खींचता है वो सौन्दर्य है, किन्तु क्या सौन्दर्य का अर्थ बाहरी सौन्दर्य से है - नहीं। वास्तविक रुप में सौन्दर्य का अर्थ – आन्तरिक सौन्दर्य से है – उदाहरणार्थ यदि एक साधारण महिला जो देखने में सुन्दर नहीं है, किन्तु यदि हम उससे बात करते है और उसके सम्पर्क में कुछ देर रहते हैं – तो हमें उसके बात करने का तरीका, उसकी मधुरवाणी व ज्ञान भण्डार से निकली जानकारी से हम उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते हैं और उससे मिलने के पश्चात अनायास ही हमारे मुख से उसके लिए "अच्छी महिला है" शब्द निकलते हैं – वास्तविक रूप में ये सौन्दर्य है, जो हमें बाहरी रूप से नहीं वरन अपनी आन्तरिक खूबसूरती से अपनी ओर आकर्षित करे।

किन्तु संगीत में सौन्दर्य का सम्बन्ध आन्तरिक व बाहरी दोनों से होता है, क्योंकि संगीत कला में रसाभिव्यक्ति व रसास्वादन की प्रक्रिया कलाकार और श्रोता के बीच रहती है तथा "संगीत" में स्वरात्मकता व लयात्मकता ये दोनों तत्व संगीत व सौन्दर्य के सम्बन्ध को अवछिन्न बनाने के मुख्य आधार माने गए हैं"। [१]

हमारे संगीत में कलाकार का लक्ष्य संगीत की सौन्दर्यशक्ती द्वारा प्राणी के स्थायी भावों पर अधिकार करना होता है।

---

१ संगीत मैन्युअल एच जी पब्लीकेशन, दिल्ली. पृ. सं – ६०

बाल कृष्ण गर्गजी के अनुसार "संगीत का सौन्दर्य उस रस में नीहित है, जो रजोगुण तथा तमोगुण के समाप्त होने पर अंतःकरण के सत्व गुण को उभार कर चेतना विशेष मे परिणित कर देता है और उन क्षणों मे मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोभ तथा चिंता इत्यादि से मुक्ति पाकर ब्रह्मानंद – सहोदर संगीत – आनंद में अवगाहन करने लगता है"। [१]

रस संगीत की आत्मा है, अर्थात संगीत मे रस होना अत्यन्त ही आवश्यक है, रसों की चर्चा हमारे प्राचीन शास्त्रों में विस्तार से की गई है। भारत के नाटयशास्त्र में षष्ठम तथा सप्तम अध्याय में रसों की चर्चा की है। गुनीजनों ने रस का प्रमुख आधार भाव माना है तथा इन भावों को स्थायी भावों की संज्ञा दी गई है।

"भरतमुनि ने आठ स्थायी भाव तथा उनके अनुरुप आठ रस बताएँ है। बाद में शांत रस को देखकर नवरस की कल्पना की।

स्थायी भाव	रस
१. हास	श्रृंगार
२. रति	हास्य
३. शोक	करुण
४. क्रौध	रौद्र
५. उत्साह	वीर
६. जुगुप्सा	विभत्स
७. भय	भयानक
८. विस्मय	अद्‌भुत
९. निर्वेग	शांत "[२]

१ निबन्धसंगीत (संगीत मे सौन्दर्य बोध) श्री बालकृष्णगर्ग पृ सं. २२४

२ संगीत दर्शन, श्रीमती विजय लक्ष्मी जैन पृ. सं. ५४

गुणीजनों द्वारा राग के स्वरों के आधार पर संगीत में रसों का समावेश किया गया है। भातखण्डे जी ने कोमल रे-ध-वाले रागों मे शांत एवम करुण रस की प्रधानता दी है, जैसे- भैरव, जोगिया ।

शुद्ध रे-ध वालें रागों में श्रृंगाररस की प्रधानता मानी है। जैसे - गौड़सारंग, देशकार। तथा कोमल- ग-नि वाले रागों में वीर रसकी निष्पत्ति मानी है, जैसे-बागेश्री, आसावरी।

अर्थात संगीत का तथा रस का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है तथा संगीत कला को प्रस्तुत करने का एक तरीका होता है अतः कुछ सहायक माध्यमों द्वारा रस की निष्पत्ति होती है।

१. नाद

२. स्वर

३. राग

४. वाद्य

५. काव्य

६. ताल

७. संगीत कार का व्यक्तित्व

नाद :- समस्त संसार नाद के आधीन है। संगीत का मूल आधार नाद है, रस निष्पत्ति मे. महत्वपूर्ण तत्व नाद है, एक मधुर नाद के विषय में आचार्य बृहस्पतिजी बताते हैं कि "भाषा की अपेक्षा नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है।" नाद की महत्ता के कारण ही "नाद ब्रह्म " कहा गया है महर्षिभरत ने नाड्यशास्त्र में नाद की उत्पति के विषय में कहा है।

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वहिमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम ।।
ब्रह्मग्रंथि स्थितरसोऽयं क्रमावूर्ध्यपंथे चरन्।
नामि हत्कठं मूर्धास्येष्वाविर्भावयते द्वनिम् ।।

अर्थात- बोलने की ईच्छा रखने वाली आत्मा मन को प्रेरणा देती है, मन के द्वारा अग्नि वायु को प्रेरित करती है। ब्रह्मग्रंथि में स्थित प्राण (वायु) तथा अग्नि के संयोग से नाभि, हृदय, कंठ, मूर्ध्नि (सिर) तथा तालु को स्पर्श करता हुआ नाद उत्पन्न होता है।

स्वर :- हमारा सम्पूर्ण संगीत स्वर पर आधारित है, वैदिक-काल में, साम गान में उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ये तीनो संज्ञाएँ प्रयुक्त हुईं, तत्पश्चात पाचं स्वरों का गायन किया जाने लगा व अब सात स्वरों में सम्पूर्ण संगीत समाया हुआ है।

मंतगकृत बृहद्देशीय में ही सर्वप्रथम हमें "स्वर" की व्याख्या, व्याकरण के आधार पर मिलती है। स्वर के दो भाग बताए है-"स्व" तथ-"र"। "स्वर" का अर्थ स्वयं व "र" का अर्थ जो प्रकाशित हो।

शारंगदेवजी ने स्वरों के विषय में कहा है-

"भावी यः स्निग्धोऽनोरणात्मक।

स्वरो रंजयाति श्रोतृचितं सः स्वर उच्वयते।

वर्तमान समय में इन सातों स्वरों को ही विभिन्न रुपों से गाकर रस की निष्पत्ति की जाती है, स्वरों के प्रस्तुतीकरण में कण, मीड़, मुरकी, खटका आदि रुपों द्वारा रस निष्पत्ति में सहायक होतें हैं।

राग :- भारतीय संगीत में सौन्दर्य उत्पत्ति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कलाकार पर होता है, क्योंकी कुशलता के बल पर राग नियमों का पालन करते हुए संगीत अंलकरणों का प्रयोग करना संगीत में सौंदर्यत्व का निर्मण कर उसे हृदयग्राही बनाता है। सौंदर्य प्राप्त करने के लिये जरुरी नही कि प्रत्येक व्यक्ति कलाकर हो, जरुरी है तो व्यक्ति का सहृदय होना, आनन्द की प्राप्ती हृदय से होती है तथा संगीत द्वारा आनन्दानुभूति रस निष्पत्ति का कारण होता है। राग भारतीय संगीत का प्रधान वैशिष्ठय है, इसीलिए भारतीय संगीत को "रागदारी संगीत" भी कहा जाता है।

राग :- योग्यं ध्वनिविशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः ।

रंजको जनचित्तानांमःराग कथ्यतै बुधै ।।

अर्थात ऐसी ध्वनि जो स्वर और वर्ण से विभूषित हो तथा (मनुष्यके) जन चित्त का रंजन करे, उसे राग कहते हैं। भारतीय संगीत में प्रत्येक स्वर स्वतः रंजन की शक्ती रखता है, किन्तु स्वरों के समूहों से रचना का निर्माण होता है, अकेला स्वर रंजन तो होता है रस की निष्पत्ति भी करता है किन्तु उसमें एक चरित्र निर्माण करने की क्षमता नही होती, इसीलिए कुछ स्वरों की संगती द्वारा विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है तथा इसी आधार पर विभिन्न रागों का निर्माण हुआ। प्रत्येक राग के कुछ नियम हैं, कलाकार जब राग के नियमों का पालन करते हुए अर्थात एक सन्तुलित अनुपात में स्वरो में अलपत्व- बहुत्व, न्यास-विन्यास आदि का ध्यान रखकर- प्रस्तुति करता है, तो सौन्दर्यानुभूति होती है तथा राग में लगने वाले वादी-संवादी स्वर राग का सौन्दर्य बढ़ाने का कार्य करते हैं। भारतीय संगीत में राग एक ऐसे चित्र के समान है जिसमें विभिन्न रंगों को भरकर पूर्ण किया जाता है, जो की कलाकार की साधना पर निर्भर करता है। जिसके अन्तर्गत ह्रदय पक्ष और बौद्धिक पक्ष दोनों का मिश्रण होता है। राग में आलाप करते हुए कलाकार निश्चित भाव से ह्रदय से आनन्द भावना का संचार करता है किन्तु वही तानों के प्रस्तुतिकरण में उसका बौद्धिक पक्ष व तैयारी झलकती है। ये कलाकार की कल्पनाशीलता शास्त्र की परिधि में ही होती है।

गमक, मुरकी, खटका, मीड़ आदि द्वारा सौन्दर्य वृद्धि की जाती है, कलाकार द्वारा राग में लगने वाले स्वरों को लगाने का अंदाज, न्यास-विन्यास पर ध्यान रखते हुए राग नियमों का पालन करते हुए स्वरों को उतार-चढ़ाव के झूले में झुलाते हुए विभिन्न अलंकरणों से जेसे खटका, कंपन, आदि के प्रयोग से सौन्दर्यानुभूति होती है। सम्पूर्ण रस स्वरों में नीहित होता है, जरुरत होती है तो उसे लगाने के अंदाज की किन स्वरों की संगती खिलेगी व किन की नहीं।

कलाकार के इसी प्रस्तुतीकरण द्वारा श्रोताओं के ह्रदय में भावों का संचार होता है, कलाकार अपनी कल्पना-कौशल एवम् योग्यता के माध्यम से संगीतमय आकृती प्रस्फुटित करता है इसी से ही श्रोताओं के ह्रदय में रस की उत्पत्ति होती है ।

वाद्य:- वर्तमान युग में प्रत्येक वाद्य अपनी स्वतन्त्र शैली रखता है, राग को किस वाद्य पर बजाया जा रहा है इसका प्रभाव उससे उत्पन्न होने वाले रस पर पडता है, अर्थात प्रत्येक वाद्य द्वारा उत्पन्न नाद से विशिष्ट रस की निष्पत्ति होती है-जैसे सितार व जलतंरग द्वारा श्रृंगाररस और सांरगी से मुख्य रुप में करुण रस।

मोटी आवाज वाले वाद्य गंभीरता प्रदान करते हैं, तथा पतली आवाज वाले वाद्य चंचलता व श्रृंगारिक भाव उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

श्री, दरबारी राग (गंभीर) को वीणा या सरोद पर बजाया जाए तो सजीव हो उठता है और बंसत बहार आदि राग को सितार पर बजायें तो अधिक कर्ण प्रिय लगेगा।

काव्य :- एक राग को हम भिन्न-भिन्न भावों वाली रचना से भिन्न-भिन्न रसों की उत्पत्ति करते हैं, यह उस राग की शब्द रचना में प्रयुक्त होने वाले काव्य पर निर्भर करता है, यदि काव्य श्रृंगारिक भाव लिए हुए है तो उससे श्रृंगारिक रस ही निष्पादित होगा, हम चाहें तो भी भक्ती रस, करुण रस या कोई अन्य रस निष्पादित नहीं कर सकते सौन्दर्य की उत्पत्ति प्रस्तुत शब्द रचना में प्रयुक्त होने वाले काव्य पर ही निर्भर करती है, इसी प्रकार एक भाव शब्द रचना को अलग-अलग रागों में गाकर हम समान रस निष्पादित कर सकते हैं।

- अब हम - माण्ड गायन शैली में प्रयुक्त होने वाले काव्य की ओर आते हैं तो हम इस शैली में प्रयुक्त होने वाले काव्य में भी विभिन्न रसों की निष्पत्ति स्पष्ट रुप में पाते हैं.

उदाहरणार्थ:- केसरिया बालम, आवोनी पधारो म्हारे देश........

इस गीत में नायिका स्वागत करते समय, विभिन्न रसों का निष्पादन करती है, कहीं उत्साहित होकर स्वागत करती है तो कहीं विनती करती है, कभी अधिकार पूर्वक आग्रह करती है कि प्रियतम। अब वापस आ जाओ ।

अन्तरे में कुछ इस प्रकार का वर्णन है:-
आवण जावण कह गया, कर-गया कौल अनेक।
गिणता-गिणता घस गई, म्हारी आंगलियां री रेख।

अर्थात :- जाते समय कह कर गए थे जल्दी आओगे, वादा करके गये थे, परन्तु दिन, गिन-गिन कर मेरे हाथ (नायिका) की लकीरें भी धुँधली हो गई हैं। अर्थात नायक के इंतजार में दिन युग के समान है। इस प्रकार इस काव्य में विरह रस (श्रृंगाररस) स्पष्ट दिखाई देता है, साथ में कलाकार की कौशलता इस शैली में चार चाँद लगा देती है। माण्ड गायन शैली में श्रृंगार-रस का प्रयोग अधिक किया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकारों से उसका प्रयोग होता है, कहीं ये विरह के रुप में, तो कहीं अनुग्रह के रुप में। इन दोहों में कहीं प्राकृतिक सौन्दर्य झलकता है तो कहीं नायिका की खूबसूरती का वर्णन।

नायक - के दूर जाने के बाद नायिका के मन की स्थिति स्वंय नायिका इस प्रकार बताती है ये इन दोहों में अत्यन्त ही मनोहारी रुप में व्यक्त किया गया है।

उदाहरणार्थ कुछ दोहे :-

१. नैनन की कर कोठरी सो पुतली देऊँ बिछाय,
पलकन की चिक डार कर, सो साजन लेहूँ बलाए।

अर्थात:- आखों में प्रयितम की छवि को पूर्णरुप से बसा लेने और समा लेने का भाव दर्शाते हुए नायिका एक रुपक प्रस्तुत करती है, जिसमें नेनों की कोठरी में पुतली के सहारे आए हुए साजन को पलकों की चिक डालकर बांध लिया जाए, मानों साजन को नैनों मे कैद ना कर लें।

२. साजन साजन मै कँरु, साजन जीव जडी,
सजन-लिखालूँ चूड़लै सो बाचूँ घड़ी-घड़ी।

अर्थात:- नायक की याद में नायिका हर पल साजन को याद करती है, कहती है, (नायक) वो मेरे दिल में समाये हुए हैं किन्तु फिर भी मैं साजन-साजन करती हूँ। अब साजन मेरे चूड़े में लिखवा लेती हूँ जिससे कि मैं उसे बार-बार पढ़ सकुँ तथा नायक के दूर होने पर भी उसके पास होने का एहसास कर-सकुँ।

३. राजा बिन प्रजा दुखी सो दुखी चन्द्र बिन रैन,
था बिन प्यारे मैं दुखी, सो दुखी दरश बिन रैन।

अर्थातः- जिस प्रकार राजा के बिना प्रजा का कोई अस्तित्व नहीं होता है, प्रजा खुश नहीं रह पाती है तथा राजा ही प्रजा का पालन हार है। रात के बिना चंद्रमा का कोई आधार नहीं होता उसी प्रकार प्रियतम (नायक) के बिना (नायिका) मैं दुखी हूँ, और परेशान हूँ, तुम्हारे (नायक) दरश के बिना मेरे नयन व्याकुल हैं, परेशान हैं।

अतः माण्ड-गायन शैली में ऐसे अनेकों दोहे मिलते हैं जिनमें नायक-नायिका का वर्णन मिलता है, जिनके द्वारा हमें स्पष्ट भी होता हे कि माण्ड भावाभिव्यक्ति की एक सुहानी शैली है, जिसका काव्य निरालापन लिए हुए विभिन्न रसों की निष्पत्ति करता है।

ये गायन शैली चाँदनी रात में घास के पत्तों पर पड़ी नन्हीं नन्हीं बून्दों की शीतलता के समान सुहानी व मधुर काव्य लिए हुए है।

ताल :- ताल शब्द की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं।

"संगीतार्णव" नामक ग्रन्थ के अनुसार तान्डव (पुरुष) नृत्य से "ता" तथा लास्य (स्त्री) नृत्य से "ल" वर्णों के संयोग से ताल शब्द बना है।

संगीतदर्पण नामक ग्रन्थ में ताल शब्द "ताकार" (शिव) तथा "लकार" शक्ती के योग से बना है।

महर्षीभरत के अनुसार संगीत में काल को नापने की क्रिया को ताल कहा जाता है। संगीतरत्नाकर के अनुसार ताल उसे कहते हैं जिसमें नृत्य वाद्य एवं गीत प्रतिष्ठित रहते हैं जो कि संगीत में स्थिरता प्रदान करते हैं।

संगीत ताल के बिना अधूरा है। स्वरों द्वारा हृदय में उल्लास आन्नद तो प्राप्त होता है, किन्तु ताल को उसमें जोड़ दे तो यही आनंद दुगुना हो जाता है, संगीत में ताल ही वास्तव में स्वरों को गती प्रदान करते हैं। ताल द्वारा हमारा संगीत एक निश्चित नियम या समय के बंधन में बंधता है।

ताल द्वारा संगीत को अनुशासित किया जाता है, स्वरों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति व रस का निष्पादन किया जाता है किन्तु भारतीय संगीत में ताल का समावेश करने पर ये आनंद कुछ गुना और बढ़ जाता है जिसका अपना ही महत्त्व है।

ताल वाद्य पर आतिविलम्बितलय, मध्यलय, द्रुतलय, अतिद्रतलय गतियों के द्वारा ताल से विभिन्न रसों की निष्पत्ति होती है।

स्वरों के मोतियों को ताल रुपी धागे में पिरोकर कुशल कलाकार श्रोताओं को भाव विभोर कर देते हैं, इसी कारण ध्रुवपद, धमार, ठुमरी, ख्याल,"माण्ड" विभिन्न शैलीयाँ ताल पर आश्रित होकर यथोचित प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं।

ध्रुवपद की गंभीरता, ठुमरी की चपलता तालाश्रित ना की जाए तो अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता अतः ताल में रस अंतः नीहित है। वादक की कुशलता से वाद्य पर आघात, वजन घनत्व मिलकर ही अनेक रसों की उत्पत्ति करतें हैं।

"तबलें के बोलों का वजन ताल की गती, खाली भरी के स्थान परिवर्तन, दाएँ-बाएँ के परिवर्तित स्वरुप, अवग्रह पात-निपात की प्रक्रिया,वादक की लचीली अगुँलियों के समुचित स्पर्श और-तात्कालिक सूझ बूझ से किसी भी ताल को इच्छित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए रस के अनुकूल बनाया जा सकता है।"[१]

ताल और लय का विभिन्न प्रकार से प्रयोग करके सौन्दर्य की अनुभूती होती है, ध्रुवपद व धमार में भिन्न लयकारियॉ दुगुन, चौगुन आदि करके पुनः सम पर आना एक सौन्दर्यानुभूति कराता है।

या फिर ख्याल गाते समय गायक बंदिश के साथ साथ विभिन्न तालों का प्रयोग करता है तथा मुखड़ा पकड़ कर सम पर आकर मिलता है ये एक सौन्दर्य स्थल प्रतीत होता है।

तराने में गायक लय के साथ अठखेलियाँ करते हुए विभिन्न प्रकार की तिहाईयों का प्रयोग करके एक समा बांधता है ये सभी ताल द्वारा ही संभव है।

संगीत में स्वर व ताल का अपना ही महत्त्व है दोनों के द्वारा रसों की उत्पत्ति होती है किन्तु दोनों के एक साथ प्रयोग से संगीत सम्पूर्ण होता है।

---

१ संगीत विशारद-श्री बसंतजी पृ. सं-५५७

कलाकार का व्यक्तित्व :- यह सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, जो कि रस निष्पत्ति में सहायक है। कलाकार के ऊपर ही निर्भर करता है कितने प्रभावी ढंग से प्रस्तुती करे कि शब्द रचना का मूल रस उत्पन्न हो जाए, उसकी प्रस्तुती में भिन्न रसों का आन्नद प्राप्त हो ताकि श्रोता मंत्रमुग्ध हो सके, ये सब कलाकार की योग्यता, क्षमता, अभ्यास और उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति पर निर्भर करता है। कलाकार अपनी मन की स्थिती पर अधिकार कर रचना से उत्पन्न होने वाले रस के अनुकुल ही अपनी प्रस्तुती देखकर ही सौन्दर्य की उत्पत्ति अर्थात रस का निष्पादन करने में सफल हो पायेगा। यदि कलाकार की मनः स्थिति उस पर हावी रही तो प्रस्तुती पर भी उसका प्रभाव पड़ता है यदि वह उदास है या अपने प्रस्तुतीकरण में कुछ संकोच रखता है तो उसकी प्रस्तुती उसी प्रकार प्रभाव डालेगी व यदि उत्तेजित है तो कलाकार की उत्तेजना का प्रभाव भी गायन-वादन दोनों में दिखेगा। उदाहरणार्थ : माण्ड गायन शैली में कभी-कभी लंगा जाति के कलाकारों की प्रस्तुती कुछ इसी प्रकार होती है, माण्ड गायकी में इन कलाकारों के प्रस्तुतिकरण में वाद्यों का वर्चस्व अधिक होता है, वाद्यों की अधिकता उनके प्रस्तुतीकरण में हावी रहती है,जहाँ एक ओर वाद्यों का प्रयोग प्रस्तुतीकरण में अच्छा दिखता है वहीं ज्यादा वाद्यों का प्रयोग गायकी पक्ष को कमजोर बनाता है। वादन की कलात्मकता की स्पर्धा में गायकी की कलात्मकता का प्रभाव कम हो जाता है।

कभी-कभी गायन प्रस्तुतीकरण में (विलम्बित लय) मूल लय तो कहीं दूर छोड़ कर वाद्यों की होड़ से द्रुतगती में प्रस्तुती स्वरों की अस्पष्टता, उच्चारण-अस्पष्टता आदि दोषों को बढ़ावा देता है। ऐसा प्रदर्शन कला और मूल शैली के अस्तित्व का हास करता है। परंम्परागत होते हुए इस गायकी का प्रस्तुतिकरण सिर्फ शोर बनकर रह जाता है। इन गायकों के गले की हरकतें वाद्यों की बढ़ी लय के साथ खूबसूरत लगने के स्थान पर अस्पष्टता के कारण सौन्दर्यात्मकता को पीछे छोड़कर सिर्फ शोर का रुप ले लेती है। परंम्परागत शैली होने के साथ-साथ लोक कलाकार कभी-कभी अपरिपक्व गायन का प्रस्तुतीकरण करते हैं, श्रोताओं को अत्याधिक कलात्मकता दिखाने के कारण एक ही चीज की पुनरावृत्ति प्रस्तुतीकरण के स्तर को गिराती है।

भारतीय संगीत में संगीत की दो धाराऐं बहती हैं।

१. शास्त्रीय संगीत

२. लोक संगीत

सुविधानुसार हम संगीत को इस प्रकार देख सकते है

संगीत

- शास्त्रीय संगीत
- लोक संगीत
  - सामान्यजन का संगीत
  - पेशेवर कलाकारों का संगीत

- संगीत की एक धारा शास्त्रीय संगीत है, जिसके अन्तर्गत शास्त्र बद्ध नियम मर्यादाऐं व सीमाऐं हैं, कलाकार को उन सीमाओं की परिधि में रहकर ही अपनी कुशुलता का परिचय देना होता है। शास्त्रीयसंगीत में ज्ञान पक्ष बलवत्तर है, भाव पक्ष पर थोड़ा कम ध्यान दिया जाता है तथा रागों की परिधि में रहकर राग को विस्तारित करना होता है. राग के किलिष्ट नियमों के आधीन रहकर ही राग की कल्पना को साकार करना होता है. यहॉं पर स्वर, कण, गमक, घसीट, मुर्की और अन्य सांगितिक अंलकारों द्वारा सजाकर उनकी प्रस्तुति करनी होती है परन्तु इसमें राग के बंधन का Tension दिमाग में रहने से ज्यादा मुक्तता महसूस नहीं कर सकते। प्रत्येक राग के स्वरूप द्वारा रागका एक निश्चित खाका है किन्तु कल्पनाशीलता के आधार पर कलाकार को राग को एक सुन्दर रुप देना होता है, स्वरों का लगाव ठहराव बंदिश को एक सम्पूर्ण रुप प्रदान करता है. कलाकार जब किसी राग कि प्रस्तुति देता है तो एक निश्चित सीमा में राग को चित्रित करता है उसको एक आकार प्रदान करता है, उस चित्र व आकार के अनुसार उसमें विभिन्न सांगीतिक अंलकरणों से उसे सजांता है सवॉंरता है ये अंलकृत सुसज्जित व विस्तृत रुप ही शास्त्रीय संगीत में प्रचलित है।

जहाँ शास्त्रीय संगीत नियम बद्ध व सिद्धातों पर आधारित होता है वहीं लोकसंगीत दैनिकजीवन से ओत–प्रोत। शास्त्रीय संगीत "रागदारी संगीत" कहलाता है जिसमें प्रत्येक

राग के कुछ नियम और कायदे होते हैं जिन पर राग-आधारित होती है। प्रत्येक राग को उन नियमों के साँचें में डाल कर ही प्रस्तुत किया जाता है किन्तु दूसरी और यदि लोक संगीत पर दृष्टि डालें तो पाते हैं स्वतंत्र उमंगों – तरंगों की धारा में बहता हुआ संगीत। शास्त्रीय संगीत के अनेक विद्‌वान हुए प्रत्येक की अपनी अलग अलग शैली, धीरे धीरे इन शैलियों ने घराने का रुप लिया किन्तु लोक-गीतों का विकास मात्र परम्परा के आधार पर ही हुआ और आज भी इसी रुप में हम इन दोनों धाराओं को पाते हैं, किन्तु "माण्ड" के प्रति इन दोनों धाराओं के अलग-अलग विचार हैं। शास्त्रीय ज्ञाता माण्ड को एक राग के रुप परिभाषित करते हैं और राजस्थान से जुड़े कलाकार इसे राजस्थानी लोकशैली का दर्जा देते हैं इन विचारकों के अनुसार माण्ड शुद्ध राग न होकर शास्त्रीय पुट लिए हुए एक लोकगायन शैली है। अतः "माण्ड" के सम्बन्ध में अनेक धारणाऐं हमें मिलती हैं –

प. भातखण्डे जी के अनुसार "माण्ड"

मध्यम मृदु तीवर सवैं वक्र सजत अवरोहि ।
सा – म वादि – सवांदी तें, मांड राग सुकोहि ।। [१]

यह राग - बिलावल थाठ से उत्पन्न होता है, इसका स्वरुप वक्र है। इस राग में वादी स्वर षड़्ज और संवादी पचंम है, इस राग में सा-म-प स्वर महत्वपूर्ण हो जाते हैं, निषाद पर आंदोलन लेना इस राग का एक चिन्ह ही है। इसके आरोह में "रे" और "ध" स्वर दुर्बल है और अवरोह में वक्र हो जाते हैं।

१ हिन्दुस्तानी क्रमिक पुस्तक मालिका, भाग-५, पृस – २१९

आरोह – अवरोह स्वरुप

सा ग रे म ग प म ध प नी ध सां । सां ध नी प ध म प ग म सा ।

साधरण चलन इस प्रकार है : सा, रे ग, सा रे, म म प, ध, प, ध सां, सां नि सां निध, ध नि प, प ध म प ग, म सा रे ग गसा।

स्थाई :	ध – प म	ग सा रे ग	सा – सा रे	– रे सा सा
	मॉ ऽ ड सु	र त ब त	ला ऽ ये का	ऽ न्ह मो हे
	0	3	×	2
अन्तरा :	म – म म	म म म –	प – प प	प ध सां सां
	शु ऽ द्ध स्व	र न को ऽ	मे ऽ ल क	रे ऽ ता में
	सां रे सां नि	ध ध म म	प – – –	प – – –
	म ऽ ध्य म	सु र को ब	ढ़ा ऽ ऽ ऽ	ये ऽ ऽ ऽ
	सां सां नि –	ध ध प प	म म ग ग	म ग सा सा
	म ध सं ऽ	ग त अ ति	म धु र च	तु र स खि
	0	3	×	2

अभिनव गीताज़लि में रामाश्रयझाजी के अनुसार :-

"माण्ड राग" का वास्तविक स्वरुप प्रांतीय लोकधुनों पर आधारित है अर्थात मालवा तथा राजस्थानी लोकगीत जो कि माण्ड पर आधारित है उसी को गुणीजन राग नियमों के द्वारा व्यवस्थित करके संगीत क्षेत्र में गाते बजाते हैं। इनके अनुसार सभी स्वर शुद्ध होते हैं, तथा जाति वक्र सम्पूर्ण है।

इनके अनुसार सा, म, प तथा नि महत्त्व के स्वर हैं, इसके आरोह में ग तथा नी का अलपत्व है मुख्य रुप में षड्ज-पंचम मध्यम न्यास बहुत्व के स्वर है तथा निषाद दीर्ध बहुत्व का स्वर है अन्य स्वर अलपत्व ही दिखता है।

इनके अनुसार धुन प्रधान होने के कारण ख्याल, धमार, ध्रुवपद आदि इसमें नहीं गाये जाते, इसमें भजन, ठुमरी, व लोकगीत ही गाए जाते हैं।

आलाप :- सा रे ग सा, रे म प, ध म प ग रे, रे म प ध म प, प ध नि नि प
धनि धम प ग रे ग सा । रे म प ध नि प ध सां रें सां नि धि नि प ध
सां रें गं, सां ध नि प, म प ध नि ध म, प म प ध नि ऽ नि प ध नि
प ध म ग रे, प म ग रे, ग सा, रे म प ध सां नि नि ध म प ।[1]

"राग-विज्ञान" भाग : एक - विनायक राव पटवर्धनजी के अनुसार

१. आलाप : सा, रे सा नीं धंसा, सा रे म ग रे, सा रे ग, रे सा

२. सा रे म प ध, प नी ध प म, प म ग रे, सा ग रे ग रे सा

३. सा रे म प ध, प नी ध प म, प ध सां, नी सां रें सा नी ध, प नी ध प म,
प म ग रे सा ग रे ग रे सा

४. सा रे म प ध सां, नी सां नी ध प ध सां, प ध सां रें, सा म रें गे रे सा, रे,
सा नी ध प ध नी सो, नी ध, प नि ध प म, प म ग रे, सा ग रे ग रे सा

५. म ग रे, ध नी ध प म, सो नि ध, ध सा रैं, सा रे मे, गे रे, सा गे रैं गे रैं सो,
सों नी धप ध नी सों नि ध प ध सा, नि ध प म, प म ग रे, सा

६. म, प ध नी ध प म, म प ध सा, रैं सो नी ध सो, ध सों रैं मे पे मे गे रे, सा गे रे
गे रे सा, ध नी सों ध नी रैं सो नी ध, प ध नी प ध सों नि ध प म, ग रे, रे सों नी
धं सां

---

[1] अभिनव गीतांज़ली -- भाग - २, पृ. सं. --

७ तान - सारेमगरेसा, सारेमपधपमगरेसा, सारेमपधसोनीधपमगरेसा, सारेमपधसोरै गेरै सोनीधपमगरेसा।

८. सारेमप – रेमपध – मपधसो – पधसो रै – धसोरैगे - गे रै सोनी - रैसोनीध सांनीधप – नीधपम – धपमग - धपमग - पमगरे – मगरेसा

९. सारे मप धध – धनीध - धीनध – पमगरेसा, सारेमपधसो रै सो – सो रै सो – सारैसो – सोरैसोनीधपमगरेसा, सारेमपधसो – रै गे रै – रैगे – रैसोनीधपमगरेसा

१०. सारेरे – रेमम –मपप – पधध – धसोसो – सो रै रै – रै मे मे – रे गे गे – सारैरै-

निसोसो – धनीनी – पधध – म पप – रे मम – रे गग - रेसा।

राग - मांड, तीन ताल (मध्यलय)

ठाकुर तुम - शरणाई आया । उतर गयो मेरे मनका संशय – जब तेरा दर्शन पाया

अन – बोलत मेरी वृथा जानी अपना नाम जपाया।

गुरु नानक कृत – स्वर रचनाकार - पं विष्णंदिगम्बरजी।

म ग म प प ध नी प ध सौं सौं नी सो रै सो नि ध प सो सो
ठा कु र त म श . र . णा ई आ . . . या . उ त
+ ७ १ ३ +

सो सो सो रै नी सो नि ध प नी ध प म ग प म ग रे सा सा रे
र ग यो . . मे रे म न का. सं. श य ज ब
७ १ ३ +

म म प ध ध सा ऽ प ध सा रे सा रे सा नि ध
ज ब . . . ते . रा . द र श . . पा या
७ १ ३

अन्तरा

प प ध सा सा सा सा   सां रें ऽ सा रे ग म ग रे सा नी रे सा
अ न बो ल त मे री   वृ था जा . . . नी . अ प ना
\+ ७   १ ३ +

नि रे सा नि ध प   प ग म प ध नी रें सां नि ध प
ना . म ज   पा . . . . . या
७   १ ३

राग माण्ड, तीन ताल (मध्यलय)

ऊँधो सो मूरत हम देखी। शिव सनकादि सकल मुनि दुर्लभ ब्रहम इंद्र नाहि पेखि ।। धृग।। खोजत फिरत युगो युग योगी-योगी युगत ते न्यारी। सिद्ध समधि स्वपन नहि दरशी मोहनी मूरत प्यारी।

स्वर रचनाकार "स्व. पं. विष्णु दि. जी."

ध ध ऽ प म प ध प ध   सा सा सा नी रे सा नि ध सा सा सा सा नी
ऊँ धो सो मू र त   ह म दे खी   शि व स न का
\+ ७   १ ३ + ७

रे सां नि ध प   नी ध प म ग रे सा सा   रे म प ऽ प ध प ध
. दि स   क ल मु नि दु . र्ल भ ब्र ह्म इं द्र ना हि
१ ३ + ७

सा सा नी रे सा नि ध
पे खी . . . .
१ ३

अन्तरा

प ध ध सां सां सां सां   रैं रैं सा सां रैं गे रे सां सां सां   रे नी सा सां
खो ज त फि र त यु   गो यु ग यो . . गी यो ग यु ग त ते

\+ ७ १ ३ + ७

नी सां नी सा रै सा [नि] ध , प ध ध सां सां सां रै रै रै सा
न्या . . . . . री सि द्ध स मा धि स्व प न न हिं

१ ३ + ७ १

[ग] रै गे सो सो सो सो नी [रे] सा [नि] ध प   ध सो ऽ नी [रे] सा [नि] ध
द र शी मो ह नी मू . र त   प्या. . . . री

३ + ७ १ ३

इस - राग में सब स्वर शुद्ध लगते है ।

जाति - औडव सम्पूर्ण (आरोह में गंधार निषाद वर्जित रहने से)

वादी - मध्यम / संवादी - षड़ज

समय - रात को

राग का मुख्य अंग - म प ध म ग रे, सा रे ग सा

आरोह - सा रे ग प ध सो

अवरोह - सो नि ध, प ध म, ग रे, सा।

विशेष :- यह राग - शुद्ध स्वरों का माना जाता है। इस राग के स्वर बहुत उलट पुलट कर और वक्र रुप से लिए जाते है। "सा निध, पध म, प म ग रे सा" इस प्रकार के स्वर समूह बार-बार लिए जाने से राग का स्वरुप स्थिर रहता है ।इस राग में मध्यम, धैवत ओर निषाद दो दो लेने का भी प्रचार है परन्तु राग का सच्चा स्वरुप शुद्ध स्वरों का ही है। इसलिए शुद्ध स्वरों के स्वरुप के अनुसार ही राग का आरोह-अवरोह और आलाप आदि इस पुस्तक में दिये गए है। इसी को "आसा और पहाड़ी" भी कहने में आता है । अलग अलग स्वरों पर ठहरने से ऊपर के दोनों राग स्वतन्त्र दिख पड़ते हैं। [१]

१ रागविज्ञान भाग-१ श्रीविनायक राव पटवर्धन पृ सं.

- अब हम शास्त्रीय पक्ष से लोकसंगीत की ओर आते हैं अर्थात संगीत की दूसरी धारा की (लोक संगीत) जब हम बात करते हैं तो हम लोक संगीत को दो भागों में पाते हैं – लोकसंगीत का पहला भाग जो कि आम जनता द्वारा गाया जाता है, जिसमें सहजता से भावों को व्यक्त किया जाता है। जन समूह का एकत्रित होकर समूह में गान करना सीधा – सीधा सपाट सपाट चलने वाला गीत है, मुख्यतः महिलाओं द्वारा एकत्रित होकर मधुर लहरी छेड़ना ही इनमें आता है, एक महिला द्वारा गीत आरम्भ करना गाते गाते रुकना अन्य महिलाओं द्वारा उत्साहित होकर साथ देना बीच में कहीं भी रुककर श्वास लेना तथा पुनः अपनी मधुर आवाज से गीत को बीच में से ही गाना शुरु कर देना, अर्थात सुविधानुसार गीत को रुप देना ही इनका लक्ष्य होता है । प्रायः मांगलिक अवसर, अनुष्ठान, तीज त्यौहार व्रत आदि में इस प्रकार के गीतों को सुना जा सकता है जो कि बड़ी बुजुर्ग महिलाओं द्वारा घरों में आज भी कायम है । इन गीतों में किसी भी प्रकार की नियम बद्धता या किलिष्टता नहीं होती है ये मुख्य रुप से समाज व परिवार से जुड़े हुए होते हैं। इसकी अदायगी के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होता है।

अब हम लोकसंगीत के दूसरे भाग की और आए तो पाते है, पेशेवर गायक कलाकारों का संगीत । जिनकी आजीविका ही संगीत है । इसके अन्तर्गत संगीत के माध्यम से समाज में कलाकार को लोक कलाकार के रुप में स्थान बनाना होता है अतः अपने को ऐसे पेशे में स्थापित करने के लिए निश्चित रुप सें एक श्रेणी विकसित करनी पड़ती है अपनी कला को समृद्ध बनाने के लिए उस पर मेहनत करनी पड़ती है, अतः ऐसे लोग ही समाज के अन्दर स्थाई रुप सें पेशेवर कलाकार के रुप में पारिभाषित होते हैं। राजस्थान में संगीतात्मक जातियों के रुप में पहिचाने जाने वाले कलाकार मुख्यतः लंगा, मांगणियार, ढोली, मिरासी हैं। इनके संगीत को हम उपशास्त्रीय संगीत के समान मान सकते हैं क्योंकि ये पेशेवर कलाकार "माण्ड राग" का नाम लेकर गाते तो हैं किन्तु इनके संगीत में शास्त्रीय संगीत की जो निम्नावली है, जो उसका क्षेत्र है उसमें कभी भी ये बंध कर नहीं गाते। ये मौखिक परम्परा को आगे

बढ़ाते हुए अपनी गायन शैली में विभिन्न कलाबाजी दिखाते हैं। ये गाते समय सुविधानुसार अन्य स्वरों की छूट लेते हैं तथा इनका मुख्य लक्ष्य चमत्कृति उत्पन्न करना है। माण्ड गाते समय विभिन्न प्रकार की लयकारी, बोलबाटँ, तान आदि का प्रयोग तो करते हैं किन्तु इनकी गायन शैली में जरुरी नहीं कि ये सिर्फ शुद्ध रुप में राग का प्रस्तुतीकरण करें।

इन लोक कलाकारों की अपनी अलग शैली है जिसे ये अपनी शास्त्रीय शैली मानते हैं इन कलाकारों के अपने अलग लोक राग हैं। अर्थात इनकी गायन शैली शुद्ध शास्त्रीय गायन शैली से भिन्न होती है, इनके द्वारा गाई गई रागों का स्वरुप इनका अपना होता है, जिस पर इनका पूर्ण अधिकार है। उदाहरणार्थ जब ये माण्ड गाना शुरु करते हैं उसमें इतने खो जाते हैं कि इन्हें स्वयं ही पता नहीं रहता कि ये माण्ड गाते गाते किसी और राग के स्वरों को गाने लगते हैं, ध्यान रहता है तो सिर्फ माधुर्यता का और चमत्कृति का, किन्तु इतने पर भी तुरन्त माण्ड के स्वर पकड़कर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने में सक्षम होते हैं। ये लोक कलाकार श्रवण में इतने पक्के होते हैं कि जरा सा स्वर इधर उधर हुआ नहीं कि आपको बता देगें कि आपने माण्ड अलग रुप में गाया है। लिखित विद्या या शास्त्रों पर आधारित नहीं होने पर भी इनकी गायन शैली का अपना अलग अलग महत्व है। अपने पुरखों की चीजों को श्रवण कर हू ब हू गाना ही इनकी विशेषता होती है। तथा इनके द्वारा गाए जाने वाले रागों में इनकी अपनी स्वर रचना है जिनकी तुलना लिखित शास्त्र से हम नहीं कर सकते है क्योंकि इनके द्वारा निर्मित राग में लगने वाले स्वर शुद्ध शास्त्रीय संगीत से भिन्न होते है। इनके द्वारा निर्मित इनके लोकरागों का आधार ये स्वयं है ना कि शास्त्र या इतिहास। ये पेशेवर जातियां माण्ड को राग का नाम देकर ही गाती हैं तथा इन लोक कलाकारों ने ही माण्ड के चार प्रकार निर्धारित कर रखे हैं, जिन्हें हम शुद्ध माण्ड, सूब माण्ड, आसा माण्ड, व सामेरी माण्ड के नाम से जानते हैं। किन्तु इनका कोई लिखित स्वरुप व साहित्य हमें प्राप्त नहीं होता है जो कुछ है वो मौखिक परम्परां पर आधारित है। शास्त्रीय संगीत में माण्ड को सिर्फ शुद्ध रुप में ही गाया जाता है किन्तु

राजस्थान के ये लोक कलाकार इस शैली को गाते समय भिन्न भिन्न रागों की छूट लेकर मुख्य चार प्रकार में गाते हैं।

शुद्ध माण्ड ।

सूब माण्ड।।

आसा माण्ड।

सामेरी माण्ड।

सुश्री सुधा राजहँसजी ने अपनी पुस्तक "चिरमी" में माण्ड के चार प्रकारों का वर्णन किया है। इनके अनुसार "माण्ड" के ये चारों रुप मुख्यतः लंगों और माँगणियारों में प्रचलित है। उन्होनें माण्ड के इन चारों प्रकारों को कुछ इस प्रकार से विभाजित किया है।

"शुद्ध माण्ड :

आरोह : सा, ग म प ध नी सां

अवरोह : सां धनि प, म, ग, सारे गरे ग सा।

स्वरुप : सा, गम, पध, निसां, नि नि नि निध निसां निसांध धनि, पसां धप मग सारे गरे गसा।

विशेष : आरोही क्रम में सदैव गम पधनिसां ही रहता है इसे शीध्र गाया जाता है। अवरोही क्रम में वक्र रहता है। अवरोही क्रम में कभी कोमल निषाद का प्रयोग भी करते हैं।

सूबमाण्ड : आरोह : सा रे गम, म ग, गम, पध निसां सां।

अवरोह : सां निध पम मग, रे ऩिसा

स्वरुप : ऩि रे गम मग, गम पध निसां निधप, म -, -, मे ग, पमे धप, पध, निसां, निध, पम मेग, नि'रेसा

विशेष : गाने में दोनों रिषभ का प्रयोग होता है अवरोही रिषभ सदैव कोमल रहता है। तीव्र मध्यम को बढ़ाकर गाया जाता है और मीड़ द्वारा गंधार पर लाकर छोड़ने की

वृत्ति है। इस राग को पहिचानने की मुख्य स्वरावलि मे ग प मे ध प पध निसां निसां निध पम मग है।

सामेरी माण्ड

आरोह : सा रे म प ध नि सां ।

अवरोह: सां नि ध प म ग रे सा

स्वरुप : सा रे म प ध नि सां -, धनि, सारें, गंरे, रें - सांनि धप सां - निध, मप, धप, म, पग, मरे, निरे सा।

विशेष : सामेरी और आसा माण्ड में बहुत अन्तर है - आरोही अवरोही समान है किन्तु स्वरों के लगाव से भिन्न उत्पन्न होती है.

आसामाण्ड :-

आरोह : सा रे म प ध नि सां

अवरोह: सां नि ध प म ग रे सा।

स्वरुप : सा रे म प ध नि सां, सां रें गंरें, सां - सां रें, सां - निध, पध, पध-म

विशेष : धम कों घसीट से लगाने की विशेषता है। इन्हीं स्वरो की अधिक संगीत रहती है।" [१]

अत: माण्ड एक ऐसी गायन शैली है जिसमें शास्त्रीय संगीत व उपशास्त्रीय संगीत तथा लोकसंगीत तीनों में ही अपना विशिष्ट स्थान!

शास्त्रीय कलाकारों द्वारा इस गायन शैली को शास्त्रीय संगीत से ओत-प्रोत मानना व लोक कलाकारों का इसे लोकसंगीत के अन्तर्गत मानना आता है। माण्ड व शास्त्रीय परिप्रेक्ष्यता की बात करते हैं तो हम पाते हैं कि शास्त्रीय कलाकार द्वारा

माण्ड के विशिष्ट स्वर समूह में किसी अन्य राग की स्वर संगती का प्रयोग ऐसी कुशलता से करना कि माण्ड की नवीन रचना का निर्माण हो जाये।

स्वरों की छूट के माध्यम से शब्द रचना का रुप निखर जाए, ये ही माण्ड की विशेषता है तथा इसी से माण्ड का शास्त्रीय रुप स्पष्ट होता है।

१ सुश्री सुधा राजहँस - "चिरमी" पृ. स ४४

उदाहरणार्थ

माण्ड : म म, रे ग रे सा, म प ध म, प , म ग म रे ग, रे सा, ध ध नि प, ध म, पग, सा रे सा। म म, रे ग, रे सा, रे म प, प ध प, सां नि ध म, प ग । सां नि ध, नि प, ध म, प ध सां, गं सां, नि, ध, निप, धम, पग, सांनिधम, प, गम, रे ग रे सा।

देस राग : रे म प, <u>नि</u> घ प, प ध प म, ग रे, ग सा।

रे म प <u>नि</u> ध प, म प नि सां रें सां नि सां <u>नि</u> ध म ग रे सा।

ऩि सा, रे म प ध म ग रे, प, ऩि सा, रे म प ध <u>नि</u> ध

प ध म ग रे, प़ ऩि सा रे म प ध <u>नि</u> सां, <u>नि</u> ध प ध म ग रे,

प, नि सां, रे म पनि सां रे सां <u>नि</u> ध प ध म ग रे, प।

माण्ड में देश :

			ग म	पध	पध	निसां -	निसां	ध	धनि
			के ऽ	सरि,	याऽ	ऽऽ, ऽ	बाऽ	ल	मऽ
पध पनि धप	मग रेग -सा	मरे म म		प				धनि	धप,
आऽ बोऽ ऽऽ	नीऽ ऽऽ ऽप	धाऽ रो ऽ		म्हा				रे	ऽऽ

प - -

दे ऽ ऽस

केसरिया बालम आवोनी पधारो, म्हारे देस,

पधारोम्हारे देस, जी केसरिया बालम.......

गम पध निसां निसां ध , ध<u>नि</u> पध प<u>नि</u> धप मग रेग -सा

मरे मम पध <u>नि</u> ध प पऽ प<u>नि</u> निसां <u>नि</u> ध<u>नि</u> ध<u>नि</u> पध प<u>नि</u> पध मग गम पध पध निसां।

खमाज राग : सा ग म प ध नि सां,सां नि ध प म ग रे सा ।

नि ध म प ध, म ग ।

माण्ड में खमाज : नि नि सां नि ध प प प नि ध प

ओ लूँ ड़ी ल गा य नै सि ध नै ऽ

मग ग -

चा ल्या ऽ

ओलूँड़ी लगाय नै चाल्या ओ बादीला राज,

ढोला म्हासूँ नेहड़लो लगाय बालम भूल गया।

- नि नि सां नि ध प प प नि ध प मग ग - ग मध पम प म

ग ग सारे सा सा।

शास्त्रीय संगीत में शब्द रचना गाते समय जब हम स्वरों की छूट की बात करते हैं तथा गायन में कुछ सहुलियत की बात करते हैं तो स्वतः ही उपशास्त्रीय संगीत की ओर मुड़ जाते हैं।

माण्ड के स्वरों मे अन्य रांगागों के टुकड़ों का प्रयोग स्वतः ही माण्ड का परस्पर सम्बन्ध उपशास्त्रीयता के नज़दीक ला देता है। उपशास्त्रीय संगीत की सर्वप्रचलित गायन शैली है - ठुमरी। ठुमरी मुख्यतः श्रृंगाररस प्रधान है। स्वर, लय, ताल व गायन में शब्दों के माध्यम से श्रृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, जिस प्रकार ध्रुवपद पुरुष प्रधान गायकी है उसी प्रकार ठुमरी गायन शैली नारी प्रधान है, जिसे कोमल भावनाओं का प्रतीक माना जाता है।

भाषा, स्वर, ताल, लय आदि का आश्रय लेकर ही मनुष्यभावों को व्यक्त करता है, निश्चित अनुपात में स्वरों का प्रयोग और ताल का प्रयोग संगीत की विशिष्ट रचना को जन्म देता है। ठुमरी गायन शैली भावों की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम है, विभिन्न भावों को एक ही रचना में व्यक्त करना ही ठुमरी की विशेषता है। रुठना, मनाना, विनति

करना, इठलाना, इतराना, मचलना, हठकरना, अनुग्रह करना, अनुराग करना, अधिकार जताना, शिकवा करना, शिकायत करना, तरसना, तड़पना आदि सैकडों ऐसे भाव हैं जो प्रेम और अखण्ड विश्वास को दर्शाते हैं। जिन्हें संगीत के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है तथा इन सभी भावों को एक ही रचना द्वारा व्यक्त करने के लिए ठुमरी सक्षम है। या यों कहें कि ठुमरी गायन शैली की उत्पत्ति इसी कारण हुई है। इन सभी क्रियाओं की एक निश्चित गति होती है, जिसे निश्चित लय में व्यक्त किया जाता है। इस गायन शैली में ना कोई उतावला पन है, ना किसी तरह की हड़बड़ाहट होती है।

इस शैली को व्यक्त करने के लिए जरुरत होती है तो सिर्फ कलाकारकी काल्पनिक शक्ती की, शास्त्रीय संगीत की जानकारी की, कठोर अभ्यास की तथा मधुर व लचीले कण्ठ की। ठुमरी अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए विभिन्न रागों का आश्रय लेती है, जब कोई एक राग इन असंख्य क्रिड़ाओं को स्पष्ट करने में सक्षम नहीं होता तब कलाकार द्वारा आविर्भाव-तिरोभाव का सहारा लिया जाता है अर्थात सरलता पूर्वक कलाकार रागों की छूट ले लेता है, तथा शब्द रचना में नीहित भावों को प्रकट करने के लिए ठुमरी गायन शैली में स्वरों में उतार चढाव पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे भावों का सौन्दर्य भली-भांति स्पष्ट किया जा सके! सुन्दरता बढ़ाने के लिए अर्थात और अधिक मधुर बनाने के लिए छोटी छोटी तानों का प्रयोग किया जाता है। ठुमरी गायन शैली वह है जो शब्दों की विशेषता को प्रकट नहीं करे अपितु काव्य में छुपे हुए भावों को स्पष्ट करे। ठुमरी की शब्द रचना के अनुकूल स्वरों में आलाप, तान मीड़, मुरकी, खटका आदि द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है।

माण्ड गायन शैली भी ऐसी शैली है जो कि ठुमरी गायन शैली के समान प्रतीत होती है, ठुमरी गायन शैली में जिस प्रकार रागों की छूट ली जाती है उसी प्रकार माण्ड गायन शैली में भी रागों की छूट ली जाती है।

ठुमरी गायन शैली के समान माण्ड गायन शैली भी श्रृंगार रस प्रधान शैली है ठुमरी में जिस प्रकार नायिका द्वारा विभिन्न भावों को व्यक्त किया जाता है, उसी प्रकार माण्ड में भी मुख्यतः नायिका द्वारा कभी विरह वेदना तो कभी नायक के घर लोटने पर नायिका

के ह्रदय में उठने वाले उल्लासित व प्रसन्नचित भावों को तथा ऐसे असंख्य भावों को माण्ड गायन शैली में काव्य के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। माण्ड गायन शैली में एक ओर जहां नायक-नायिका से सम्बन्धित विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है वहीं दूसरी और राजदरबारों से निकली इस गायन शैली में राज दरबार की सुन्दरता का वर्णन है व राजा महाराजाओं की प्रसंशा का वर्णन है, तात्पर्य यह है की श्रृंगारिक भाव माण्ड गायन शैली का आधार भाव है। ठुमरी गायन शैली के समान माण्ड गायन शैली में भी शब्द रचना को विभिन्न भावों द्वारा व्यक्त किया जाता है। अन्तर है तो ये कि ठुमरी गायकी में अन्तरा मुख्यतः एक या दो होते हैं किन्तु माण्ड गायन शैली में हम अपनी सुविधानुसार विभिन्न अन्तरों को शब्द रचना के अनुरुप जोड़ते चले जाते हैं।

इन दोनों गायन शैलियों में दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि ठुमरी उपशास्त्रीय संगीत की सर्वविदित व सर्वमान्य शैली है किन्तु माण्ड मुख्य रुप में ना तो पूर्णतः शास्त्रीय है, नाही पूर्णतः उपशास्त्रीय संगीत व ना हीं पूर्णतः लोक गायकी है। ठुमरी गायन शैली में विभिन्न रागों की छूट ली जाती है तथा ये ठुमरी की मुख्य विशेषता होती है, उसी प्रकार माण्ड गायन शैली में भी दूसरी राग की छूट ली जाती है, किन्तु जब माण्ड का सम्बन्ध हम लोक संगीत से मानते हैं तो उन लोक कलाकारों द्वारा गाई जाने वाली। (लगां / मांगणियार) शुद्ध माण्ड के अतिरिक्त, माण्ड के तीन प्रकार और हम पाते हैं जिनका ज़िक्र मैनें अध्याय के आरम्भ में किया है। वे गायक कलाकार माण्ड गाते समय माण्ड के साथ साथ अन्य रागों के नामों को भी जोड़ते हैं जिनको यदि हम शास्त्रीय संगीत से तुलना करे तो बिल्कुल अलग ही पाते हैं। ये सभी उनकी मौखिक परम्परा पर आधारित होता है। ऐसी स्थिती में हमने अपनी सुविधा के लिए "लोक राग" का नाम दिया। ये लोक राग इन लोकगायकों द्वारा निर्मित होते हैं। इन लोक कलाकारों की मान्यता ये है कि ये शास्त्रीय संगीत पर ही आधारित है तथा शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होने वाली रागों के नाम ये कलाकार भी लेते हैं। किन्तु उनके उच्चारण में भेद तथा इनकी अदायगी भेद के कारण इसे हम शास्त्रीय संगीत का दर्जा नहीं दे सकतें, क्योंकि इनके द्वारा गाये गये गीत या राग हमें शुद्ध शास्त्रीय संगीत से कहीं मेल नहीं खाते। इसलिए इनके द्वारा निर्मित

चीजों को हम लोक राग के नाम से परिभाषित कर सकते हैं। तथा इन लोक-रागों का कोई लिखित आधार नही है।

स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो गायन शैली का अपना अलग महत्व है, जो कि किसी भी अन्य उपशास्त्रीय गायन शैली से ना तो प्रभावित है और ना ही किसी अन्य गायकी के समान है। हम इसे कुछ अंश तक ठुमरी शैली के पास मान सकते हैं किन्तु इनकी अदायगी दोनों को परस्पर अलग करती है दोनों ही गायन शैली अलग है।

मैने माण्ड गायन शैली की तुलना आरम्भ में ठुमरी से की वो इसलिए क्योंकि कभी कभी कुछ विशेषताएँ जो हम ठुमरी गायन शैली में पाते हैं, वो ही माण्ड गायन प्रस्तुती में मिल जाती हैं, किन्तु ठुमरी सर्वमान्य उपशास्त्रीय गायन शैली है पर माण्ड की प्रस्तुती पर व कलाकार की कौशलता पर निर्भर करता है कि माण्ड गायन शैली का क्या आधार दिया जाए।

*****

शास्त्रीय संगीत

1 ध्रुवपद : ध्रुवपद दो शब्दों से मिलकर बना है - ध्रुव + पद। ध्रुव का अर्थ है अचल अर्थात चिरस्थायी और पद से तात्पर्य है ईश्वर भक्तिमें लिखा गया काव्य - अर्थात ईश्वर अराधना हेतु उसका गुणगान करने के लिए, जिन पदों कि रचना की जाती थी और गाये जाते थे वे गेय पद ध्रुवपद कहलाए।

ऐसा माना जाता है कि प्राचीन काल से चली आ रही इस परम्परा का उदग्म उपनिषद काल में गाई जाने वाली शैली "ध्रुवागान" से हुआ। ऐसी धारणा है कि भरतमुनि के समय में भी अनेक ध्रुवाओं का उल्लेख हुआ एवं इसी ध्रुवा गान के तत्वों को लेकर ध्रुवपद बना होगा। इस शैली का आरम्भ कब हुआ यह सुनिश्चित रुप में नहीं कहा जा सकता है, किन्तु उत्तर भारतीय संगीत में ध्रुवपद गायन शैली का प्रचार प्राचीन काल से ही रहा तथा ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के समय इस शैली का विशेष प्रचार हुआ। मुगलों के आक्रमण के पश्चात भारतीय संस्कृति में कुछ परिवर्तन आए, संगीत पूर्णतः ईश्वरीय अराधना का विषय ना रहकर आजीविका का साधन बनने लगा। मुगल शासकों नवाबों आदि कि रुचि के अनुरुप संगीत के स्वरुप में परिवर्तन होने लगे व कला में श्रृंगारिकता आ गई। पहले समय में ध्रुवपदों की भाषा संस्कृत हुआ करती थी किन्तु धीरे धीरे समयानुसार परिवर्तन होते हुए ध्रुवपद की काव्यभाषा हिन्दी, संस्कृत, ब्रज आदि हो गई।

ध्रुवपद के चार अंग होते थे उदग्राह, ध्रुव, आभोग अंतरा। इन्हीं चारों भागों को आज स्थाई अंतरा, संचारी, आभोग कहा जाने लगा है, किन्तु आधुनिक काल में मुख्यतः ध्रुवपद के दो ही अंग देखने को मिलते हैं स्थाई व अंतरा।

यह गायकी पुरुष प्रधान गायकी मानी जाती है। इस गायकी में स्वर शब्द ताल का स्वरुप शुद्ध रखा जाता है, इसका विस्तार विभिन्न प्रकार की लयकारियों द्वारा किया जाता है। ध्रुवपद गायन में सर्वप्रथम नोम-तोम का आलाप किया जाता है कण, मुर्की तान का प्रयोग नहीं होता। पहले आलाप करते समय ओम नारायण, या तू ही हरि इत्यादि भक्तिपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया जाता था, परन्तु परिवर्तानुसार वर्तमान में नोम तोम,

नाती आदि शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। शब्दों का उच्चारण स्पष्ट तथा शुद्ध होना ध्रुवपद की अपनी विशेषता है । स्वरों का प्रयोग सीधा व शुद्ध रहता है, आकार की तानें वर्जित मानी जाती हैं। साथ ही दुगुन, तिगुन चौगुन-विभिन्न लयकारी करते हुए गमक व बोलबाँट आदि का प्रयोग ध्रुवपद में खूब खिलता है।

ध्रुवपद गीत विशेष रुप से तीव्रा, सूलताल मत्तताल आदि में होते हैं। परवावज (मृदंग) द्वारा संगत की जाती है, खुली और मर्दाना गायकी जैसे खुले बोलों वाले ताल ही प्रयोग में लाए जाते हैं। भातखण्डेजी का मानना है कि ध्रुवपद का गायन गत शताब्दी के प्रारम्भ तक अत्यन्त लोकप्रिय था और अब भी वह शुद्ध व आदरणीय समझा जाता है। ख्याल की अपेक्षा ध्रुवपद अधिक विस्तृत होता है। स्थाई, अंतरा, संचारी आभोग इस प्रकार चार भाग होते हैं, कुछ ध्रुवपदों में स्थाई व अंतरा ऐसे दो ही भाग होते हैं - प्राचीन प्रसिद्ध ध्रुवपदों के चार भाग होते थे और प्रत्येक भाग के तीन तीन, चार-चार चरण हुआ करते थे। ध्रुवपद गायको को "कलांवत" की संज्ञा दी जाती थी।[१]

तुलसी रामदेवांगनजी निबन्ध संगीत में लिखते है कि आज के प्राप्त ध्रुवपदों में अनेक धार्मिक पर्वो, राज दरबारो सामाजिक रीति रिवाजों, वेदान्त के सिद्धान्तों भक्ति मार्ग के विभिन्न पथों आदि का विस्तृत और प्रमाणिक रुप प्राप्त होता है, जिससे प्राचीन भारतीय संस्कृति के एक विशाल रुप का परिचय हमें प्राप्त होता है। ध्रुवपद गायन के विस्तार के मुख्य आधार राग, ताल, लय और भाव है। राग का शुद्ध रुप ध्रुवपद की श्रेष्ठ रचनाओं में हमें उत्कृष्ट रुप में मिलता है। राग के आरोह में कौन स्वर वर्जित है, राग का मुख्य स्वर कौन है, अल्प स्वर का प्रयोग कैसे किया जाता है, इत्यादि राग से सम्बन्धित नियमों का पूर्ण रुपेण पालन ध्रुवपद गायन में करना आवश्यक समझा जाता है"[२]

---

१ क्रमिक पुस्तक मालिका भाग -५ भातखण्डे जी पृ.स. ४६

२ निबन्ध संगीत - श्री तुलसीरामदेवागनजी (ध्रुवपद शैली - एक विचार) पृ.सं ५८

2 <u>धमार</u> : शास्त्रीय संगीत की एक प्रमुख गायन शैली है-धमार गायन शैली। धमार ताल में गाये जाने वाले गीत प्रबन्ध को धमार कहते हैं। धमार के गीतों में विशेष रुप से होली का वर्णन किया जाता है। भगवान श्री कृष्ण की रास लीला तथा ब्रज की होली के दृश्यों का वर्णन धमार गायन शैली के काव्य का आधार होता है।

धमार गायन शैलीमें विभिन्न प्रकार के बोलबाटँ (शब्दों का अलग-अलग स्वर समूह द्वारा विभिन्न लयकारियों में गाना) का प्रयोग अत्यन्त मनोहारी रुप में किया जाता है।

इसमें आरम्भ में आलाप किया जाता है, तथा कुछ विद्वान धमार के दो भाग स्थाई अन्तरा व कुछ विद्वान चार भाग, स्थाई, अन्तरा संचारी आभोग मानते हैं। तथा विभिन्न लयकारियों द्वारा इसे पेश किया जाता है, भक्ति रस की प्रधानता रहती है। इस गायन शैली को विभिन्न प्रकार की रागवाचक धुनों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस शास्त्रीय गायन शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि यह सिर्फ धमार ताल में ही गाया जाता है।

मंतग आदि विद्वानों ने इसे भिन्ना गीति के नाम से पुकारा है। भातखण्डेजी के अनुसार "धमार गीत का एक प्राचीन प्रकार है। इसे होरी भी कहते है तथा इसमें अधिकत्तर राधाकृष्ण तथा गोपियों अथवा व्रजका वर्णन मिलता है। इसमें भी ध्रुवपद के समान नोम तोम का आलाप तथा लयकारी विशेष महत्त्व रखती है। इसमें दुगुन, तिगुन चौगुन आदि लयकारियाँ अधिकत्तर गीत के शब्दों को लेकर दिखाई जाती है और गमक का खूब प्रयोग होता है। खटके अथवा तान के समान स्वर - समूह वर्ज्य है, कुछ संगीतज्ञ इसमें सरगम भी बोलते हैं, किन्तु यह ख्याल के सरगमों से भिन्न होती है। ध्रुवपद अथवा धमार के प्रत्येक अंग में गंभीरता रहती है"१

इस गायन शैली में पखावज का प्रयोग भी किया जाता है, ध्रुवपद तथा धमार में अंतर यह है कि ध्रुवपद गायन शैली का प्रदर्शन विभिन्न प्रकार की लयकारियाँ जैसे - आड़ कुआड़, बिआड, आदि लयों "का प्रयोग किया जाता है, वहीं धमार में बोलबाटँ को प्रस्तुत किया जाता है। "धुवपद में गीत की धुन नहीं बदलती परन्तु धमार में गीत को

१ क्रमिक पुस्तक मालिका भाग - ५, भातखण्डेजी पृ. स. ४९

विभिन्न प्रकार की राग वाचक धुनों द्वारा व्यक्त किया जाता है।' धमार में सिर्फ धमार ताल का ही प्रयोग ही किया जाता है, किन्तु ध्रुवपद में अन्य तालों का प्रयोग भी होता है।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार तानसेन, उनके वंशजों और शिष्यों ने भी धमारों की रचना की और लोकगीति का यह प्रकार एक विशेष रुप धारण करके मुगलदरबारमें प्रतिष्ठित हुआ। "धमाल", "धमार", "धमारी" इन तीनों रुपों का मूल एक ही है। संस्कृत धातु "धम" का अर्थ सुलगाना, भड़काना, शब्द करना और जोरसे फूंक मारना और बजाना है। इस शब्द की व्युत्पत्ति धम इव ऋच्छाति (धम + कृ + अच) हो सकती है, जिसका अर्थ होगा-गान का वह प्रकार जो, प्रेरित करता हुआ अथवा फड़फड़ाता हुआ चले। मन्दिरों में वैष्णव संतो द्वारा रचित विशिष्ट पद "धमार" ताल में गाए जाते है। मन्दिरों के आनुवांशिक कीर्तनकार उन पदों को धमार कहते है" १

3 **ख्याल:-** आधुनिक समय की सर्वाधिक लोकप्रिय गायन शैली है ख्याल! ख्याल फारसी भाषा का शब्द है, इसका अर्थ होता है "विचार या कल्पना"। कुछ विद्वानों के अनुसार ख्याल का अर्थ स्वेच्छाचार है, अतः हम यह कह सकते हैं कि राग नियमों का पालन करते हुए अपनी कल्पना या इच्छानुसार विविध प्रकार से राग के स्वरुप का वर्णन तथा विस्तार करना ही "ख्याल" है।

इस आधुनिक शास्त्रीय गायन शैली के उदभव-विकास के विभिन्न मत है-कुछ विद्वानों के अनुसार ख्याल का अविष्कार अमीर खुसरो ने प्रचलित "रुपक" नामक प्रबन्ध से किया। कुछ विद्वान "साधारणी गीति" से ही ख्याल का जन्म मानते हैं, इस साधारणी गीति में (शुद्धा, भिन्ना, बेसरा, गौड़ी) का मिश्रण था । कुछ अन्य मतों के अनुसार सदारंग अदारंग ने रागानुकूल पद्य रचनाएँ लिखकर अपने शिष्यों को सिखाई इन नवीन रचनाओं को संगीत जगत में स्वीकारा गया व संगीत की एक नई शैली प्राप्त हुई।

---

१ निबन्ध संगीत आचार्य वृहस्पतिजी (धमारगायकी एक रगारंग परम्परा) पृं स.६२

ऐसा भी माना जाता है कि भारतीय संस्कृति में मात्र धार्मिक पदों व ईश्वरीय अराधना में लिखे गए काव्य को ही स्थान प्राप्तथा किन्तु बाहरी आक्रमणों से हमारी संस्कृति प्रभावित हुई जिससे हमारा संगीत भी अछूता ना रहसका और विलासी शासकों ने श्रृंगारिक भाव से ओत-प्रोत रचनाओं को बढ़ावा दिया व संगीत मनोरंजन के साधन के रुप में दरबारों में प्रस्तुत होने लगा, जो गायन पहले परमात्मा को लक्ष्य मान कर किया जाता था, वो अब राज दरबार की महफिलों का कारण बना तथा एक नवीन गायन शैली का विकास ख्याल गायन शैली के रुप मे हुआ! इसकी उत्पत्ति के विषय में मतभेद कितने ही क्यों ना हों किन्तु यह गीत प्रकार वर्तमान में शास्त्रीय संगीत की सबसे प्रमुख शैली बन चुकी है। ख्याल गायन शैली की काव्य भाषा हिन्दी, ब्रज, भोजपुरी अन्यभाषा होती है। इस गायकी में प्रारम्भ में थोड़ा सा रागवाचक आलाप किया जाता है, आलाप के बाद बड़ा ख्याल गाया जाता है, जो कि विलम्बित लय में होता है इसे विलम्बित ख्याल भी कहते हैं। ततपश्चात छोटा ख्याल गाया जाता है इसकी लय द्रुत होती है इसे द्रुत ख्याल भी कहते हैं। ख्याल गायकी में राग लक्षणों के अतिरिक्त कण, मीड़, मुरकी, खटका आदि का प्रयोग किया जाता है। बीच में गायक अपनी इच्छानुसार आलाप के छोटे-छोटे टुकड़े, तानें, बोलतानों का प्रयोग अत्यन्त ही खूबसूरती से करते हैं। तथा कलाकार को सांगीतिक कल्पना शक्ति का उपयोग करने का पूरा अवसर मिलता है। काव्य लय, स्वर आदि के सयोंग से ख्याल गायकी आधुनिक कालकी सर्वाधिक प्रसिद्ध शैली है । इस गायन शैली में ताल संगत के लिए तबले का प्रयोग किया जाता है। तथा बहुधा धीमा त्रिताल (वि. लय) तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा आड़ाचौताल आदि तालों का प्रयोग किया जाता है।

ख्याल शैली में श्रृंगारिक रसका प्रयोग अधिक होता है, इसीलिए ध्रुवपद जैसी गंभीरता कम होती है। भातखण्डेजी के अनुसार "प्राचीन काल में सभ्य समाज में ख्याल नहीं गाया जाता था, उस समय ध्रुवपद का ही गायन होता था तथा ध्रुवपद की अपेक्षा ख्याल की रचना संक्षिप्त है।"[१]

---

१ क्रमिक पुस्तक मालिका भाग -४ भातखण्डेजी पृ सं – ५४

*****

उपशास्त्रीय संगीत

1 ठुमरी : ठुमरी गीत प्रकार उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आता है, शास्त्रीय संगीत स्वर प्रधान है, इसमें काव्य, स्वर, ताल का समन्वय है, किन्तु ठुमरी में काव्य स्वर एवम् ताल के समन्वय के साथ-साथ काव्य पक्ष प्रबल दिखाई देता है। इस गायकी में स्वर ताल व लय के साथ काव्य शब्दों के लालित्य पूर्ण उच्चारण द्वारा ही गीत के भाव व राग की रसानुभूति को व्यक्त किया जाता है।

ठुमरी शब्द ठुम व री से बना है । ठुम से तात्पर्य ठुमकने से है तथा री से तात्पर्य अतरंग सखी से है, अर्थात अपनी अन्तरंग सखी से अपने मन की बात कहने व असंख्य भाव लहरियों को अभिव्यक्त करने से है। ठुमरी गायकी कब व कैसे प्रचार में आई यह कहना तो कठिन है किन्तु इस गायन शैली के विषय में यह कहा जाता है कि जो स्वरुप आधुनिक ठुमरी का है वही स्वरुप पहले "गौड़ी गीति" का हुआ करता था समयानुसार इसे ठुमरी के नाम से जाना जाने लगा।

ठुमरी के उदभव के संदर्भ में विभिन्न धारणाए भी है:

राजा मानसिंह द्वारा ठुमरी गायकी का उद्‌भव हुआ।
भजनों व किर्तनो से ठुमरी का विकास हुआ ।
लोकगीतों से ठुमरी का विकास हुआ।
गुलाम नवी शोरी मियाँ ने ठुमरी के रचयता थे ।

डॉ. सुशील कुमार जी के अनुसार लखनऊ के सादिकअलीखाँ ठुमरी के अन्वेशक समझे जाते हैं।

ठुमरी की काव्य रचना छोटी होती है, इस का भाव अधिकतर श्रृंगारिक रहता है, शब्दों की कोमलता तथा उन्हें गाने का ढंग ठुमरी की विशेषता है। शब्दों के लालित्यपूर्ण उच्चारण से ही गीत के भाव तथा रस को व्यक्त किया जाता है। ठुमरी गायकी चंचल व चपल प्रवृत्ति की होती है, इसी कारण इसे सभी रागों में नहीं गाया जाता है इसे मुख्यतः खमाज "माण्ड" गारा पीलू पहाड़ी आदि रागों में ही गाते हैं। ठुमरी गायकी के साथ मुख्यतः दीपचन्दी, चाचर, दादरा, कहरवा ताल बजाई जाती है। ठुमरी की गति अति

चपल नहीं होती है। ठुमरी गायकी में कण, मीड़, मुर्की, खटका, आदि से अलंकृत छोटे-छोटे भावुक आलाप तान लिए जाते हैं। कलाकार कुशलता से आभिर्भाव तिरोभाव का भी प्रयोग करते हैं।

आचार्य बृहस्पतिजी के अनुसार "ठुमरी-में "स्वर" और "शब्द" दोनों परस्पर पूरक हैं। एक ही शब्द को नई-नई छबियाँ स्वर देते हैं उसे फलेल कहेगें। वह न केवल तेल है, न फूल अपितु फूलों की गंध से बसा हुआ तेल है। लय में तो ठुमरी प्रतिष्ठित है"[१]

भातखण्डेजी ने ठुमरी को क्षुद्र गीत माना है उनके अनुसार ठुमरी "ठुमरी की शब्द रचना बिल्कुल संक्षिप्त होती है तथा ठुमरी की गति अति चपल नहीं होती। जिन रागों में टप्पे गाये जाते हैं उन्हीं में ठुमरी होती है। ठुमरी उत्तम प्रकार से गाना सरल नहीं है। उत्तर प्रदेश में ठुमरी अत्युत्तम प्रकार से गाई जाती है। ठुमरी में राग की शुद्धता रखने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। महाराष्ट्र में राग व उसके शास्त्रकी और अधिक ध्यान दिया जाता है, शायद इसीलिए ठुमरी का महत्व वहाँ नहीं है।"[२]

हृदय में उठने वाले भावों को ठुमरी के माध्यम से कलाकार गीत के रुप में व्यक्त करता है, रुठना, मचलना, इतराना, मनाना, हठकरना, विनति करना, अनुराग करना आदि असंख्य भावों को व्यक्त करने के लिए ठुमरी एक सशक्त माध्यम है ऐसे असंख्य व बेशुमार अंदाज को कलाकार आभिर्भाव व तिरोभाव के माध्यम से इसे प्रस्तुत करते हैं।

2 टप्पा : टप्पा गायन शैली के विषय में ऐसी धारणा है कि शोरी मियाँ ने बेसरा गीति के आधार पर इस शैली की रचना की। शब्दकोश में टप्पा के कई अर्थ होते हैं जैसे-उछाल, कूद, अन्तर, फर्क आदि। ये एक प्रकार का चलता फिरता गीत है।

---

१ निबन्ध सगींत - आचार्य वृहस्पति जी पृ. स. - १७

२ क्रमिकपुस्तक मालिका भाग -४, भातखण्डे जी- पृ. सं. ५०

इस शैली का उदग्म पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों में हुआ व विकास अवध के दरबार में हुआ। यह गायन शैली चंचल मानी जाती है, इस गायनशैली में स्वर शब्द, लय को कहीं भी विश्राम नहीं दिया जाता है। इस गायन शैली में छोटी-छोटी ताने द्रुत गति में ली जाती हैं व बोलतानों का प्रयोग भी किया जाता है। इस शैली में तानों में कण, मुरकी, खटका आदि का प्रयोग खुले दिल से किया जाता है। गीत में शब्द बहुत कम होते हैं तथा श्रृंगार रस की प्रधान शैली है। टप्पा गायन के साथ मुख्यतः टप्पा ताल का प्रयोग किया जाता है, यह १६ मात्रा की ताल होती है।

भातखण्डे जी के अनुसार "ख्याल व ध्रुवपद की अपेक्षा टप्पा अधिक संक्षिप्त होता है। सभी रागों में टप्पा गाया जाता है ऐसा नहीं है, टप्पा मुख्यतः काफी, झिंझोटी, पीलू, बरवा, भैरवी आदि रागों में ही गाया जाता है। टप्पा गायन सभ्य समाज में शोरी मियाँ ने प्रचलित किया।"[१]

टप्पा गायन शैली में प्रयुक्त अलंकारो में जमजमा सबसे मुख्य है, इसके बाद गिटकरी का स्थान आता है। एवम् इस गायन शैली को गाने में ताने दानेदार व गीत चपल और तनियत गला, तैयार कण्ठ की आवश्यकता होती है। टप्पे में स्थाई व अन्तरा दो भाग होते हैं।

3 कजरी : कजरी वर्षा ऋतु का विशेष गीत प्रकार है, इसे ऋतुगीतों के अन्तर्गत माना जाता है। यह श्रृंगार रस से पूर्ण होता है। राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन, विरह वर्णन एवम् वर्षाऋतु का वर्णन कजरी गीतो में हमें मिलता है। लय, ताल आदि की विविधता तथा तुकबन्दी इसकी एक विशेषता है। कजरी गीत का काव्य कभी लम्बा होता है तो कभी छोटा। कजरी, ब्रज, बुन्देलखंडी, भोजपुरी आदि बोलियों में गायी जाती है। अवध क्षेत्र कजरी गीत के लिए प्रमुख है। मिर्जापुर व बनारस में कजरी अधिक गाई जाती है।

क्रमिक पुस्तक मालिका भाग - ४, मातरखण्डेजी पृं. सं. ५१

4 होरी : होरी गीत प्रायः फागुन के महिने में गाया जाता है, होरी मुख्यतः धमार ताल में गाई जाती है, इन गीतों में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन मिलता है। इसमे मीड़ं, खटका, कण, मुर्की आदि विभिन्न अलंकरणों का प्रयोग अत्यन्त कुशलता से किया जाता है। व्रज की होरी अत्यधिक प्रसिद्ध है।

5 चैती : फागुन माह के बाद प्राय : चैत का महिना आता है, इस महिने में चैती गाई जाती है, चैती में मुख्यतः भगवान राम की लीलाओं का वर्णन होता है।

"पूर्व बिहार की और इसका प्रचार अधिक है। इसमें पूर्वी भाषा का प्रयोग अधिकतर होता है।" [१]

6 राजस्थानी माण्ड"

माण्ड स्वरुप : म म, रे ग रे सा, म प ध म, प , म ग म रे ग, रे सा, ध ध नि प, ध म, पग,[सा] रे सा। म म, रे ग, रे सा, रे म प, प ध प, सां नि ध म, प ग। सां नि ध, नि प, ध म, प ध सां, गं सां, नि, ध, निप, धम, पग, सांनिधम, प, गम, रे ग रे सा।

राजसी परिवेश में पली बड़ी ऐसी गायन शैली जिसका अपना अलग रुतबा!

ये शैली धीर गंभीर भी और-श्रृंगारिक भी, या यों कहें कि असंख्य हृदयों की भावनाओं को अपने आप में संजोए हुए। सुनने में जितनी मृदु, सहज ! गाने में कई गुना रियाज की अपेक्षा रखने वाली। शायद इसलिए ही रजवाड़ो में राजा महाराजाओं के हृदयों में बस गई और तभी से संगीत की ऐसी कर्णप्रिय धारा के रुप में बहती आ रही है। काव्य के अनुरुप स्पष्ट व खुली आवाज में स्वर लगाव कभी दोहा गान में वाद्य का प्रयोग तो कभी खुला गान। पूर्ण रचना को न्याय देने का प्रयास, इन गीतों में हमें सुनने मिलता है।

---

१ संगीत विशारद : बसन्त जी पृ. स. २३९

माण्ड गायन शैली की प्रस्तुति दरबारी कलाकारों द्वारा विलम्बित लय में इन सभी अलकरणों द्वारा सुशोभित व शब्द रचना को न्याय दिलाने में सक्षम होती थी। एक ओर इन कलाकारों की प्रस्तुति धीर, मृदु और शास्त्रीय संगीत के कठोर रियाज की अपेक्षा रखने वाली हमें सुनने मिलती है वहीं दूसरी ओर लंगा गायक इसे गाते हैं तो इस गायन शैली का लोक रुप कुछ अलग ही होता है, जब हम लंगा जाति के लोगों से माण्ड सुनते हैं तो विभिन्न वाद्यों के साथः साथ माण्ड गीतों में विभिन्न प्रकार की लयकारी, बोलबाँट हमें सुनने मिलती है। कभी कभी चर्मोत्कर्ष उत्पन्न करने के लिए बीच-बीच में वाद्यों की जुगलबन्दी तो कभी लयकारी का प्रयोग। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत में धीर गंभीरता से रागों का आलाप, स्वर का लगाव राग को स्पष्ट करते हुए तानों के साथ खेलना राग के दूसरे रुप में चचंलता को प्रकट करना आता है। उसी प्रकार माण्ड गायन शैली में प्रायः दोनों ही रुप हमें स्पष्ट रुप में दिखाई देते हैं।

ये गायन शैली कहीं तो बिल्कुल विलम्बित लय में दिखाई देती है और कहीं लंगा द्वारा इस गायन शैली को चंचल-चपल बना दिया जाता है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की लयकारी का समावेश होता है अतः माण्ड गायन शैली एक ऐसी शैली जिसे शास्त्रीय संगीत से प्रभावित कह सकते हैं, जो कि उपशास्त्रीय संगीत के कुछ गुणों का समावेश लिए हुए है तथा राजस्थानी लोकस्वरों से बंधी गायन शैली है। अर्थात राजस्थानी धरा से उपजी हुई ऐसी शैली जो कि शास्त्रीय संगीत से ओत प्रोत लोकस्वरों के रुप में हमारे सामने है, जिसके अन्तर्गत कण, मीड़, मुरकी, खटका व विभिन्न प्रकार की लयकारी व बोलबाटँ का प्रयोग कलाकार द्वारा किया जाता है।

*****